

पर्यावरण संरक्षण एवं सतत विकास के बदलते सन्दर्भ

डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव,

हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ.प्र.

शोध सारांश

प्रारम्भ में आदि मानव की भौतिक पर्यावरण की कार्यात्मकता में भूमिका दो तरह की होती थी— पाता और दाता की। अर्थात् मनुष्य भौतिक पर्यावरण के अन्य सभी जीवों के समान संसाधन (फल-फूल, पशु, मांस आदि) प्राप्त करता था (पाता की भूमिका) तथा पर्यावरणीय संसाधनों में अपना योगदान भी करता था (दाता-देने वाले की भूमिका, फलों के बीजों को अंजानों में बिखेर कर)। इस तरह मानव संस्कृति के विकास के प्रथम चरण में मनुष्य भौतिक पर्यावरण का अन्य कारकों के समान एक कारक मात्र था परन्तु जैसे-जैसे उसके समाज तथा उसकी संस्कृति के विकास के साथ उसकी बुद्धि, उसका कौशल तथा उसकी प्रौद्योगिकी विकसित होती गयी, पर्यावरण के साथ उसकी भूमिका तथा सम्बन्ध में भी उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया। यथा— पर्यावरणीय कारक—पर्यावरण का परिवर्तनकर्ता— तथा पर्यावरण का विध्वंशकर्ता। जो मानव प्रारम्भ में प्रकृति का अंग तथा साझीदार था, वही आगे चलकर उसका स्वामी बन बैठा। अतः मानव एवं पर्यावरण के मध्य सहभागिता तथा परस्परवलम्बन का सम्बन्ध चरमरा गया और मानव प्राकृतिक पर्यावरण का कारक एवं पालक न होकर उसका विध्वंशक हो गया।

Keywords: मनुष्य, प्रकृति, पर्यावरण संरक्षण, सतत विकास, बदलते सन्दर्भ

मनुष्य की प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति सदैव दो तरफा भूमिका रही है। अर्थात् एक तरफ तो मनुष्य भौतिक पर्यावरण के जैविक संघटकों का एक महत्वपूर्ण भाग तथा घटक है तो दूसरी तरफ पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण कारक भी है। इस तरह मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण तंत्र को विभिन्न हैसियत से विभिन्न रूपों में प्रभावित करता है यथा— 'जीवित या भौतिक मनुष्य' के रूप में (अर्थात् पर्यावरण के एक घटक के रूप में), 'सामाजिक मनुष्य' के रूप में, 'आर्थिक मनुष्य' के रूप में तथा 'प्रौद्योगिक मानव' के रूप में। मनुष्य के सभी प्राकृतिक गुण यथा—जन्म, वृद्धि, स्वास्थ्य, मृत्यु आदि प्राकृतिक पर्यावरण द्वारा उसी तरह प्रभावित तथा नियंत्रित होते हैं जैसे कि पर्यावरण के अन्य जीवों के प्राकृतिक गुण प्रभावित तथा नियंत्रित होते हैं। परन्तु चूँकि मानव अन्य प्राणियों

की तुलना में शारीरिक एवं मानसिक स्तरों तथा प्रौद्योगिकी स्तर पर भी सर्वाधिक विकसित प्राणी है अतः वह प्राकृतिक पर्यावरण को बड़े स्तर पर परिवर्तित करके अपने अनुकूल बनाने में समर्थ भी है। सभ्यता के आरम्भ अर्थात् प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान-समय तक मानव पर्यावरण के मध्य बदलते सम्बन्धों को निम्न चरणों में विभाजित किया जाता है—

- आखेट एवं भोजन संग्रह काल।
- पशुपालन एवं पशुचारण संग्रह काल।
- पौधपालन एवं कृषि काल।
- विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं औद्योगीकरण काल।

- **आखेट एवं भोजन संग्रह काल**— यह काल मानव संस्कृति तथा सभ्यता के प्रारम्भिक काल तथा आदि मानव से सम्बन्धित है। इसे प्रागैतिहासिक काल भी कहते हैं। इस काल में मानव प्राकृतिक पर्यावरण का एक अभिन्न भाग तथा घटक था। उसके कार्य पर्यावरण के अन्य प्राणियों के समान ही थे। अर्थात् आदि मानव भौतिक मानव के रूप में था क्योंकि उसकी आधारभूत माँग भोजन तक ही सीमित थी। आदि मानव अपनी उदर पूर्ति अपने आस-पास के पर्यावरण में जंगलों से फल-फूल तथा कन्दमूल प्राप्त करके आसानी से कर लेता था। उसे किसी स्थाई आवास की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वह चलता-फिरता तथा घुमंतू प्राणी था तथा पेड़ों पर या गुफाओं में अपनी रातें गुजार देता था। इस तरह स्पष्ट है कि आदि मानव तथा पर्यावरण के बीच मधुर तथा मित्रवत सम्बन्ध था। पर्यावरण आदि मानव की समस्त आवश्यकताओं (मात्र भोजन तथा आवास) की पूर्ति कर देता था। इस प्रकार आदि मानव प्राकृतिक पर्यावरण पर पूर्णरूपेण निर्भर था। ज्ञातव्य है कि आदि मानव भी पर्यावरण से अपने लिए संसाधन प्राप्त करता था (फल-फूल तथा कन्दमूल) परन्तु इससे पर्यावरण पर किसी भी तरह का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता था।
- **पशुपालन एवं पशुचारण काल**— समय के साथ मनुष्य ने पशुओं को पालना भी सीख लिया। पशुपालन ने आदि मानव में सामूहिक जीवन को भी जन्म दिया होगा। (सामाजिक मनुष्य) परन्तु सामूहिक जीवन के साथ-साथ उनका घुमक्कड़ जीवन बना रहा क्योंकि उन्हें भोजन, जल तथा पशुओं के चारे के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता था। अतः इनके तथा इनके पालतू पशुओं के आवास अब भी अस्थायी हुआ करते थे।

स्मरणीय है कि समय के साथ पालतू पशुओं तथा मनुष्य की संख्या में वृद्धि होती गयी जिस कारण पर्यावरण के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग भी बढ़ता गया परन्तु इसका प्राकृतिक पर्यावरण पर कोई खास बुरा प्रभाव नहीं हो पाया था क्योंकि पालतू पशु तथा मनुष्य की संख्या अब भी सीमा के अन्दर थी। अतः मानव के क्रिया-कलापों द्वारा पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों को प्राकृतिक पर्यावरण तंत्र या प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र अपने अन्दर आत्मसात करने में सक्षम थी।

समाजिक मानव ने निम्न रूपों में प्राकृतिक पर्यावरण में परिवर्तन किया—

- आहार के लिए जंगली जानवरों का शिकार करके।
- आखेट द्वारा कुछ पशुओं की संख्या कम करके।
- प्राकृतिक आवास को बदलकर कुछ पशुओं की संख्या कम करके तथा कुछ की संख्या बढ़ा करके।
- अपने तथा अपने पालतू पशुओं के आवास तथा मार्ग के लिए वनों को जलाकर।
- पशुओं तथा पौधों को पालतू बनाकर।
- जंगलों को जलाने के स्थान विशेष के पारिस्थिकीय पर्यावरण को बदलकर।
- एक स्थान से दूसरे स्थान में कुछ जन्तुओं का स्थानान्तरण करके आदि।
- **पौधपालन एवं कृषिकाल**— पौधों का भोजन के लिए पालना मनुष्य द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण के जैविक संघटकों पर विजय हासिल करने का महत्वपूर्ण प्रयास माना जाता है। वास्तव में समय के साथ मनुष्य के बुद्धि कौशल में निरन्तर विकास होता गया। वह धीरे-धीरे प्रकृति

को काबू करने में प्रयत्नशील होता रहा और पशुपालन के बाद पौधपालन उसकी बुद्धि में निरंतर विकास की अगली कड़ी था। उसने प्रारम्भ में अपने आवास के आस-पास अपने द्वारा खाये गये फलों के बिखरे बीजों से उगते पौधों को देखा होगा। अतः मनुष्यों में पौधों को उगाने तथा उन्हें पोषित करने के प्रति इच्छा जाग्रत हुई होगी। इस तरह पौधों के पालन के माध्यम से प्राचीन कृषि का विकास हुआ होगा जिस कारण लोगों में स्थाई जीवन व्यतीत करने की शुरुआत हुई। ज्ञातव्य है कि अब भी अधिकांश लोग घुमक्कड़ जीवन ही व्यतीत करते थे। स्मरणीय है कि खाद्यान्न फसलों की कृषि के साथ सामाजिक वर्गों तथा संगठनों का आविर्भाव हुआ जिस कारण प्रारम्भिक प्राचीन नदी घाटी सभ्यताओं (यथा—नील घाटी या मिश्र घाटी की सभ्यता, सिन्धु घाटी की सभ्यता आदि) का अभ्युदय हुआ। अधिकांश लोगों ने नदियों की घाटियों में स्थाई रूप से निवास करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि वहां पेयजल तथा स्थाई भूमि की पर्याप्त सुलभता थी।

स्पष्ट है कि सामाजिक स्तर पर संगठित मानव समुदाय एवं मानव समाज, मानव सभ्यता तथा कृषि-कार्य के अभ्युदय ने मनुष्य तथा प्राकृतिक पर्यावरण के मध्य अब तक चले आ रहे मित्रवत तथा मधुर सम्बन्धों में पर्याप्त परिवर्तन किया। कृषि रूपों तथा कृषि-कार्यों में निरंतर सुधार, परिमार्जन तथा प्रगति के फलस्वरूप मानव जनसंख्या में भी निरंतर वृद्धि होती गयी। परिणामस्वरूप अधिकाधिक वनों को साफ करके कृषि भूमि में परिवर्तित किया जाने लगा। स्थानान्तरण कृषि द्वारा वनों का सर्वाधिक विनाश होने लगा। कृषि के इस पुरातन प्रणाली (दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के कई देशों के पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी यह कृषि रूप प्रचलन में है। भारत के उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी प्रान्तों में आज भी झूम कृषि की जाती है) के अन्तर्गत वनों को जलाकर भूमि को साफ करके कृषि के उपयोग में लाया जाता है। चार-पांच वर्षों (या जब तक भूमि

की उर्वरता कायम रहती है) के बाद उस क्षेत्र को छोड़ दिया जाता है तथा अन्यत्र वनों को जलाकर कृषि भूमि प्राप्त की जाती है।

कालान्तर में मानव ने नई प्रौद्योगिकी का विकास किया तथा अपने निजी पर्यावरण का निर्माण किया। मानव के इस स्वनिर्मित निजी पर्यावरण को सांस्कृतिक पर्यावरण कहते हैं। इसके अन्तर्गत उसने अपने रहने के लिए भवनों, गांवों, कस्बों, नगरों आदि का निर्माण किया; सामाजिक संस्थानों यथा विद्यालयों का निर्माण एवं विकास किया, पूजाघरों का निर्माण किया, यातायात के लिए सड़कें, पुल, रेल आदि बनाई, सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण किया आदि। ज्ञातव्य है कि सांस्कृतिक पर्यावरण के ये तथा कई अन्य तत्वों का विकास एवं संवर्द्धन कृषि विकास के विभिन्न चरणों एवं अवस्थाओं में सम्भव हुआ। इस सांस्कृतिक पर्यावरण का निर्माण, विकास एवं संवर्द्धन प्रौद्योगिकी में विकास के कारण ही सम्भव हो पाया था। इस तरह विकसित प्रौद्योगिकी ने भौतिक मानव एवं सामाजिक मानव को आर्थिक मानव में बदल दिया। स्मरणीय है कि सन् 1860 ई0 तक विकसित प्रौद्योगिकी विनाशक एवं संहारक नहीं थी वरन् वह मानव के आर्थिक विकास में इस तरह सहायक थी कि उसका प्राकृतिक पर्यावरण पर अधिक कुप्रभाव नहीं पडा था। मनुष्य पर्यावरण के प्राकृतिक संसाधनों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ हो गया परन्तु प्रकृति अब भी सर्वोपरि थी।

- विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा औद्योगिकीकरण काल— विज्ञान एवं अत्यधिक विकसित, परिमार्जित एवं दक्ष प्रौद्योगिकी के प्रादुर्भाव के साथ 19वीं शदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति का (1860 से) सवेरा होता है। इसी औद्योगिकीकरण के साथ मनुष्य तथा पर्यावरण के मध्य शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध की शुरुआत भी होती है। 'आर्थिक निश्चयवाद' की अतिवादी संकल्पना, पश्चिमी दुनिया के सभी लोगों के भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा आधुनिक

‘प्रौद्योगिकीय मानव’ की अति विकसित किन्तु जानलेवा प्रौद्योगिकी एवं वैज्ञानिक तकनीक के फलस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का औद्योगिक विकास एवं नगरीकरण के लिए अविवेकपूर्ण एवं लोलुपतापूर्ण धुँआधार विदोहन एवं उपयोग प्रारम्भ हो गया। इस कारण अनेकों भयावह तथा जानलेवा पर्यावरणीय समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ है। आधुनिक प्रौद्योगिकीय मानव के प्राकृतिक पर्यावरण पर प्रभाव विभिन्न प्रकार के तथा अत्यंत जटिल हैं क्योंकि प्राकृतिक पर्यावरण के किसी एक अंग/तत्व/घटक में मनुष्य द्वारा परिवर्तन के कारण जीवमण्डलीय पारिस्थितिक तंत्र के जैविक एवं अजैविक (भौतिक) संघटकों में श्रृंखलाबद्ध परिवर्तन होते हैं जिस कारण अनेक पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकीय समस्याएं पैदा हो जाती हैं।

पर्यावरण पर मानव का प्रभाव

प्राकृतिक पर्यावरण पर मनुष्य के प्रभावों को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है— प्रत्यक्ष प्रभाव, अप्रत्यक्ष प्रभाव।

- प्रत्यक्ष प्रभाव— यह सुनियोजित एवं संकल्पित होते हैं क्योंकि किसी भी क्षेत्र में आर्थिक विकास के लिए भौतिक पर्यावरण को परिवर्तित या रूपान्तरित करने के लिए चलाए जाने वाले किसी भी कार्यक्रम से उत्पन्न होने वाले परिणामों (अनुकूल तथा प्रतिकूल) से मनुष्य अवगत रहता है। आर्थिक विकास हेतु भौतिक पर्यावरण में इस तरह के परिवर्तनों में प्रमुख हैं—

- भूमि उपयोग में परिवर्तन— कृषि में विस्तार तथा फसलों के उत्पादन के लिए वनों को काटकर साफ करना तथा घास के क्षेत्रों को जलाना; व्यापारिक उद्देश्य से पेड़ों को बृहद स्तर पर काटा जाना; नवीन कृषि तकनीकों, अधिक उपज देने वाले बीजों, समुन्नत सिंचाई की

सुविधाओं के परिवेश में शस्य प्रारूपों में परिवर्तन आदि।

- निर्माण तथा उत्खनन कार्य— नदी पर बांधों, जलभण्डारों तथा सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण; नदी की जलधाराओं में विपथगमन अर्थात् धाराओं को विभिन्न दिशाओं में किसी खास उद्देश्य के लिए मोड़ना या घुमा देना तथा नदी की जलधाराओं में हस्तक्षेप तथा हेर-फेर; क्षेत्र विशेष को बाढ़ से बचाने के लिए तटबंधों तथा डाइक का निर्माण; सड़कों तथा पुलों का निर्माण; नगरीकरण में वृद्धि तथा विस्तार; खनिजों का उत्खनन, खनिज तेल बेधन; भूमिगत जल का निष्कासन आदि।

- मौसम रूपान्तर कार्यक्रम— वर्षण को प्रेरित करने के लिए मेघ बीजन, उपल वृष्टि को रोकना तथा नियंत्रित करना आदि।

- नाभिकीय कार्यक्रम— उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक पर्यावरण में इस तरह के मानव जनित परिवर्तनों के प्रभाव अल्पकाल में ही परिलक्षित हो जाते हैं परन्तु ये परिवर्तन भौतिक पर्यावरण को दीर्घकाल तक प्रभावित करते रहते हैं। पर्यावरण पर इस मानव जनित प्रत्यक्ष प्रभावों की दूसरी विशेषता यह है कि ये प्रभाव परिवर्तनीय होते हैं क्योंकि प्राकृतिक पर्यावरण को आर्थिक प्रयोजन से प्रभावित करने से पहले उसकी (प्राकृतिक पर्यावरण की) दिशा तथा परिवर्तनों के बाद उत्पन्न दशाओं के अध्ययन के माध्यम से मनुष्य यह जान सकता है कि अमुक कार्यक्रम द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण पर हुए प्रभाव कितने हानिप्रद हैं। इस जानकारी के बाद मनुष्य, यदि वह चाहे तो, प्रारम्भिक कार्यक्रम में समुचित हेर-फेर तथा परिवर्तन करके उस कार्यक्रम द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों को कुछ सीमा तक कम कर सकता है या उन्हें (दुष्प्रभावों) दूर कर सकता है। उदाहरण के लिए, वन विनाश, जो या तो कृषि भूमि में विस्तार या व्यापारिक

उद्देश्य के लिए, किया जाता है, के कारण मृदा क्षरण की दर में वृद्धि होती है। इस तरह मृदा क्षरण, अवनलिका अपरदन का रूप धारण कर लेता है। अत्यधिक भू-क्षरण के फलस्वरूप नदियों के अवसादों से अतिभारित हो जाने के कारण उनकी तली का भराव हो जाने से नदी में जलभराव की क्षमता घट जाती है, परिणामस्वरूप विकट बाढ़ उत्पन्न होती है। इस प्रकार उत्पन्न बाढ़ के कारण अपार जन-धन की हानि होती है। इस प्रकार प्राकृतिक पर्यावरण के संघटक (वनस्पति समुदाय) में परिवर्तन (वनविनाश) द्वारा उत्पन्न श्रंखलाबद्ध प्रभावों (निर्वनीकरण-मृदाक्षरण-अवनलिका अपरदन-नदी के अवसाद भार में वृद्धि-नदी के पेटे का भराव-नदी की जलधारा क्षमता में हास-बाढ़ की आवृत्ति तथा परिणाम में वृद्धि-पर्यावरण में अवनयन तथा जन-धन की हानि) को निर्वनीकरण क्षेत्रों में पुनः वृक्षारोपण द्वारा प्रभावी ढंग से रोका जा सकता है। इसी तरह यदि नयी कृषि-विधियों द्वारा दुष्प्रभाव होता है तो कृषि विधियों में पर्यावरण परिस्थितिकीय दशाओं के अनुकूल पुनः परिवर्तन करके इन दुष्प्रभावों से छुटकारा मिल सकता है।

जहाँ तक स्थानीय एवं प्रादेशिक स्तर पर जलवायु में तथा मौसम में मानव द्वारा परिवर्तनों का सवाल है, इनके पश्चप्रभावों के विषय में पहले से विचार नहीं किया जाता है। उल्लेखनीय है कि मनुष्य के लिए ऋतुवैज्ञानिक प्रक्रमों को अनुशासित करना तथा उन पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करना सम्भव नहीं है क्योंकि वायुमण्डल में इन प्रक्रमों के नियंत्रण हेतु स्थायी मार्ग तथा व्यवस्था नहीं है। इसके बावजूद मनुष्य अवांछित प्राकृतिक वायुमण्डलीय प्रक्रमों तथा तूफानों (यथा विभिन्न प्रकार के चक्रवात-हरिकेन, टारनैडो, टाइफून आदि; उपलवृष्टि-वर्षण, मेघ आदि) को नियंत्रित कर सकता है या उनकी दिशा को बदल सकता है।

ऋतुवैज्ञानिक तत्त्वों तथा प्रक्रमों में मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्ष परिवर्तनों में मेघबीजन सर्वप्रमुख है। मेघबीजन का प्रमुख उद्देश्य वर्षण की प्रक्रिया को प्रेरित करके अधिक जलवर्षा प्राप्त करना है। मेघबीजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत टोस कार्बन डाईआक्साइड तथा आयोडीन के कुछ यौगिकों के प्रयोग द्वारा अतिशीतलित बूँदों का घनीभवन करना सम्मिलित होता है।

सिंचाई तथा पेयजल के लिए भूमिगत जल का निष्कासन प्रायः सभी देशों में किया जाता है परन्तु भूमिगत जल के विदोहन का परिणाम इतना भयावह होता है कि वह मनुष्य तथा समाज के लिए विनाशकारी हो जाता है। ज्ञातव्य है कि भूमिगत जल के अधिकाधिक विदोहन के कारण सतह के नीचे वृहदाकार कोटर बन जाते हैं तथा बाद में कभी-कभी ऊपरी सतह धंस जाती है। सागर तटीय स्थित शहरों में पेयजल की प्राप्ति के लिए भूमिगत जल के विदोहन के कारण सतह के नीचे निर्मित कोटरों में सागर का खारा जल प्रविष्ट हो जाता है जिस कारण भूमिगत जल दूषित हो जाता है। जैसे-बुकलिन शहर (संयुक्त राज्य अमेरिका) में भूमिगत जल के निष्कासन से पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव।

भूमिगत जल के अत्यधिक निष्कासन के कारण स्थल का अत्यधिक धंसाव भी होता है (मुख्य रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ पर धरातल का निर्माण असंगठित तथा ठीले पदार्थों से हुआ है) विश्व के कई भागों में भूमिगत जल के अत्यधिक निष्कासन तथा विदोहन के कारण स्थलीय भाग में धसान की घटनायें हुई हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की सन जोवाकिन घाटी में कई स्थानों खासकर कैलीफोर्निया में 1 से 3 मीटर तक स्थल भाग में धंसाव हुआ है। निर्माण कार्य (यथा बांधों तथा जल भण्डारों का निर्माण) द्वारा सतह के नीचे स्थिर शैलों के संतुलन में अव्यवस्था उत्पन्न

हो जाती है जिस कारण भूकंपीय घटनाओं का आविर्भाव हो जाता है। ज्ञातव्य है कि प्रमुख नदियों पर निर्मित बांधों के पीछे बनाये गये बृहद जलभण्डारों में एकत्रित अपार जलराशि के भार के कारण उत्पन्न द्रवस्थैतिक दबाव, नीचे स्थित शैलों को अव्यवस्थित कर देता है एवं धरातल के नीचे पूर्वस्थित भ्रंशों को और अत्यधिक सक्रिय कर देता है। इन कारणों के फलस्वरूप सामान्य से लेकर अधिक परिणाम वाली भूकंपीय घटनाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं।

मनुष्य बाढ़ नियंत्रण के उपायों, जलभण्डार की रचना, नदी के जल को उसकी घाटी में ही सीमित करने के लिए तटबंधों तथा बाढ़-दीवारों के निर्माण, बाढ़ विपथगामन के तंत्रों सरिता जलमार्ग में ही परिवर्तन आदि द्वारा नदी की प्राकृतिक व्यवस्था तथा उसकी पारिस्थितिकी में कई तरह से परिवर्तन करता है।

- अप्रत्यक्ष प्रभाव—मनुष्य द्वारा पर्यावरण पर अप्रत्यक्ष प्रभाव न तो पहले से सोचे गये होते हैं और न ही नियोजित होते हैं। पर्यावरण पर मानव के कार्य—कलापों से जनित अप्रत्यक्ष प्रभाव आर्थिक विकास की रफ्तार को तेज करने के लिए, खासकर औद्योगिक विकास में विस्तारण, मनुष्य द्वारा किये गये प्रयासों तथा कार्यों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। यद्यपि आर्थिक विकास के लिए किये जाने वाले इस तरह के कार्य—कलाप आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण हो सकते हैं परन्तु उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले पश्चप्रभाव निश्चय ही सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय हैं। आर्थिक क्रिया—कलापों से जनित पर्यावरण पर पडने वाले मनुष्य के अप्रत्यक्ष प्रभाव शीघ्र परिलक्षित नहीं होते हैं। इसका प्रमुख कारण है आर्थिक क्रिया—कलापों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले परिणामों में समय—शिथिलता। अर्थात् आर्थिक क्रिया—कलापों द्वारा पारिस्थिक तंत्र के कुछ संघटकों में सामान्य स्तर के मंद गति वाले परिवर्तन होते हैं तथा ये परिवर्तन पारिस्थितिक

तंत्र की संवेदनशीलता को पार करने में दीर्घ समय लेते हैं। पुनश्च ये मन्द गति से होने वाले परिवर्तन दीर्घकाल तक संचयित होते रहते हैं तथा जब ये पारिस्थितिक तंत्र की इन परिवर्तनों को आत्मसात करने की क्षमता से अधिक हो जाते हैं तब उनका प्रभाव लोगों के सामने आता है। कभी—कभी इस तरह के प्रभाव उत्क्रमणीय नहीं होते हैं अतः उनकी पहचान तथा उनका मूल्यांकन करना दुष्कर हो जाता है। इस तरह के अप्रत्यक्ष संचयी प्रभाव पारिस्थितिक तंत्र के एक या अधिक संघटकों या सम्पूर्ण प्राकृतिक तंत्र के एक या अधिक संघटकों या सम्पूर्ण प्राकृतिक तंत्र को परिवर्तित कर देते हैं, जो मानव वर्ग के लिए घातक एवं जानलेवा हो जाता है। मनुष्य के द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण पर पडने वाले प्रभावों में से अधिकांश पर्यावरण अवनयन तथा प्रदूषण से सम्बन्धित होते हैं। इस तरह के अप्रत्यक्ष प्रभावों के कुछ उदाहरण निम्न हैं—

कीटनाशक, रासायनिक दवाओं, रासायनिक उर्वरकों आदि के प्रयोग के माध्यम से जहरीले तत्वों के पारिस्थितिक तंत्र में विमोचन द्वारा आहार श्रंखला तथा आहार जाल में परिवर्तन हो जाता है। इस सन्दर्भ में डी0 डी0 टी0 सबसे अधिक जहरीला तत्व होता है। इसी तरह औद्योगिक संस्थानों से निकले अपशिष्ट पदार्थों के स्थिर जल (झील, तालाब, जलभण्डार आदि), नदियों के जल एवं सागरीय जल में विमोचन के कारण जल दूषित हो जाता है जिस कारण कई तरह के रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा जल स्थित अनेकों जीवधारियों की मौत हो जाती है। इस तरह के जल को दूषित करने वाले कारखानों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों में प्रमुख हैं— कारखानों से निकले कचरों की जल में धुलाई तथा उनका जल में ढेर लगाना, एस्बेस्टस की झाई का जल में विमोचन तथा संचयन, जहरीले मिथाइल रूप में पारे का विमोचन, तेल वाहक जलयानों से खनिज तेल का सागरीय जल में

रिसाव, सीसे का विमोचन, घुले हुए अकार्बनिक तत्वों का विभिन्न मात्रा में मिश्रण आदि।

पर्यावरण विद् एम० सी० सक्सेना के अनुसार— प्रतिवर्ष मनुष्य द्वारा 2,000 रसायनों का पर्यावरण में विमोचन किया जाता है। इनके मतानुसार ये जहरीले तत्व महिलाओं की गर्भनली से होते हुए उनके गर्भाशय में पनपते हुए भ्रूण तक पहुँच जाते हैं जिस कारण महिलाओं में गर्भपात तथा समय से पहले प्रसव हो जाता है। नगरीकरण में वृद्धि और औद्योगिक विस्तार के कारण प्रदूषण करने वाले तत्वों का अधिकाधिक मात्रा में पारिस्थितिक तंत्र में विमोचन हो रहा है तथा इनकी मात्रा दिनों-दिन तीव्र गति से बढ़ रही है। इस तरह के प्रदूषणकर्ता तत्वों में प्रमुख हैं— क्लोरीन, सल्फेट, बाईकार्बोनेट, नाईट्रेट, सोडियम, मैग्नीशियम तथा फास्फेट आदि के आयन। इस तरह के प्रदूषणकर्ता नगरों तथा कारखानों से निकलने वाले कचरा तथा गन्दे जल के नालों के माध्यम से जलाशयों, झीलों तथा नदियों तक पहुँचते हैं तथा उनके जल को दूषित करते हैं।

विकसित देशों तथा कतिपय विकासशील देशों की प्रमुख नदियाँ नगरों तथा कारखानों से आने वाले कचरों तथा गंदे जल के कारण प्रदूषित हो गयी हैं। घने बसे देशों तथा औद्योगिक रूप से विकसित देशों से होकर बहने वाली नदियाँ अपने स्वाभाविक प्राकृतिक स्वरूप को खो चुकी हैं तथा परिवहन जल तथा शक्ति के तंत्रों एवं मालवाहक नालों के रूप में परिवर्तित कर दी गयी हैं।

नगरीकरण, औद्योगिक विस्तार तथा भूमि उपयोग में परिवर्तनों के कारण मौसम तथा जलवायु में भी परिवर्तन होते हैं। यद्यपि ये परिवर्तन दीर्घकाल के बाद परिलक्षित होते हैं। मनुष्य की आर्थिक क्रियाएं पृथ्वी तथा वायुमण्डल के ऊष्मा संतुलन को प्रभावित करने में समर्थ हैं। इस तरह ऊष्मा संतुलन में परिवर्तन, यदि बड़े

पैमाने पर होता है तो इसके कारण प्रादेशिक तथा विश्व स्तरों पर मौसम तथा जलवायु में परिवर्तन हो सकता है। वास्तव में मनुष्य मौसमी दशाओं को निम्न रूपों में प्रभावित करता है—

- वायुमण्डल के निचले स्तर में उसके प्राकृतिक गैसीय संघटन में परिवर्तन द्वारा।
- परिवर्तन मण्डल एवं समताप मण्डल में प्रत्यक्ष (मेघ बीजन द्वारा) तथा अप्रत्यक्ष (निर्वनीकरण, खनन तथा नगरीकरण आदि द्वारा) साधनों से जलवाष्प की मात्रा में परिवर्तन द्वारा।
- धरातलीय सतह में परिवर्तन तथा रूपान्तर द्वारा (निर्वनीकरण, खनन, नगरीकरण आदि द्वारा)।
- निचले वायुमण्डल में वायुधुंध के प्रवेश द्वारा।
- नगरीय, औद्योगिक आदि स्रोतों से वायुमण्डल में अतिरिक्त ऊर्जा के विमोचन द्वारा आदि।

हाइड्रोकार्बन ईंधनों के जलाने से वायुमण्डल में कार्बन डाईआक्साइड के सान्द्रण में वृद्धि हुई है। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व वायुमण्डल में कार्बन डाईआक्साइड की मौलिक मात्रा 0.029 प्रतिशत या 290 पी०पी०एम० थी। परन्तु वर्तमान समय में वायुमण्डल में कार्बन डाईआक्साइड का सान्द्रण स्तर 0.0397 प्रतिशत या 379 पी०पी०एम० तक हो गया है, जो औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व कार्बन डाईआक्साइड के स्तर में 25 प्रतिशत की वृद्धि का द्योतक है। ज्ञातव्य है कि वायुमण्डलीय कार्बन डाईआक्साइड में वृद्धि होने से वायुमण्डल के ऊष्मा संतुलन में परिवर्तन हो सकता है क्योंकि कार्बन डाईआक्साइड पार्थिव विकिरण का अवशोषण करके वायुमण्डल तथा पृथ्वी की सतह को गर्म करती है। मानव कार्यों द्वारा ओजोन गैस में निम्न रूपों में रिक्तता हो रही है— स्प्रेकैन डिस्पेंसर में प्रयुक्त प्रणोदकों तथा रेफ्रिजरेटरों एवं एयरकन्डीशनरों में प्रयुक्त तरल पदार्थ के माध्यम

से, वायुमण्डल में 20–22 किलोमीटर की ऊँचाई पर ध्वनि की गति से दुगुनी गति से उड़ने पर सुपरसोनिक जेटविमानों से निःसृत नाइट्रोजन आक्साईड के कारण ओजोन (O₃) का (O₂) तथा (O) में विघटन हो जाता है और इस प्रकार ओजोन का रिक्तीकरण होता रहता है। ज्ञातव्य है कि ओजोन गैस पृथ्वी पर वनस्पतियों तथा जन्तुओं के लिए रक्षा कवच है क्योंकि यह सूर्य की पराबैंगनी किरणों को सोख लेती है तथा पृथ्वी की सतह को अत्यधिक गर्म होने से बचाती है। इस तरह ओजोन की रिक्तता का परिणाम यह होगा कि सूर्य की पराबैंगनी किरणों का वायुमण्डल में अवशोषण घटता जायेगा तथा भूतल के तापमान में आवश्यकता से अधिक वृद्धि का परिणाम होगा— चर्म कैंसर में वृद्धि, मानव शरीर में प्रतिरक्षण क्षमता में ह्रास, प्रकाश संश्लेषण, जल ग्रहण की क्षमता तथा फसलोत्पादन में ह्रास। सागरीय पर्यावरण पर भी ओजोन की रिक्तता के कारण तापमान में वृद्धि का दूरगामी दुष्प्रभाव होगा क्योंकि प्रकाश संश्लेषण में कमी के कारण फाइटोप्लैंकटन की उत्पादकता में ह्रास होगा। इस स्थिति के कारण जूप्लैंकटन में भुखमरी हो जायेगी (क्योंकि जूप्लैंकटन अपने आहार के लिए फाइटोप्लैंकटन पर निर्भर होते हैं)। इसके द्वारा जूप्लैंकटन के कारण लारवा की मर्त्यता भी प्रभावित होती है। सागरीय पारिस्थितिक तंत्र की जातियों के संघटन में भी परिवर्तन हो सकता है क्योंकि कुछ जातियां पराबैंगनी विकिरण को सहन नहीं कर सकती। पराबैंगनी विकिरण फोटोकेमिकल प्रक्रियाओं को भी तेज कर देता है जिस कारण जहरीला कुहरा बनता है।

स्थायी विकास

सतत/निर्वहनीय/निरंतर अथवा स्थायी विकास शब्द का प्रयोग पहली बार IUCN(International Union for Conservation of Nature & Natural Resources) ने अपनी रिपोर्ट 'विश्व संरक्षण

रणनीति' में किया था। 1987 में WCED(World Commission on Environment and Development) ने 'Our Common Future' नामक रिपोर्ट में इस शब्द की परिभाषा और कार्य पद्धति की व्याख्या की जिसे UNO ने स्वीकार कर लिया है। इस रिपोर्ट के अनुसार टिकाऊ अथवा स्थाई विकास वह विकास है जिसके अन्तर्गत भावी पीढ़ियों के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमताओं से समझौता किये बिना वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा किया जाता है। अतः पर्यावरण की सुरक्षा के बिना विकास को निर्वहनीय नहीं बनाया जा सकता। आर्थिक विकास और पर्यावरण सुरक्षा के मध्य एक वांछित संतुलन बनाये रखना ही निर्वहनीय या टिकाऊ विकास है। इसके पश्चात पूंजी, कुशल श्रमिक एवं तकनीक आदि के प्रयोग के बावजूद यदि अधिकतम विकास का प्रयास किया जाए तो पर्यावरण को स्थायी रूप से क्षति पहुँचने लगती है। इस प्रकार विकास का यह स्तर लम्बे समय तक नहीं चल सकता। सतत विकास की इस अवधारणा में पर्यावरण के अनुरूप विकास के साथ ही संसाधनों को भावी पीढ़ियों के लिए बचाये रखने पर ही ध्यान रखा जाता है। वर्तमान में यह विकास का एक भूमण्डलीय दृष्टिकोण बन गया है। सन् 1992 ई0 के पृथ्वी सम्मेलन में घोषित एजेण्डा-21 (रियो घोषणा) में इसके प्रति पूर्ण समर्थन व्यक्त किया गया। इक्कीसवीं के प्रारम्भ में जोहॉसवर्ग सम्मेलन का मूल मुद्दा ही सतत विकास था।

स्थायी विकास के पथ प्रदर्शक सिद्धान्त अधोलिखित हैं यथा—

- पारिस्थितिकीय मित्रवत् प्रौद्योगिकी— उत्पादन प्रक्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में पारिस्थितिकीय मित्रवत् प्रौद्योगिकी को अपनाकर निर्वहनीय विकास को अंगीकार करना।
- परियोजना मूल्यांकन— विकास मार्ग के अन्तर्गत किसी भी परियोजना के मूल्यांकन में

- तीन 'E'(ई) अर्थात पर्यावरण सुरक्षा (Environmental Protection), पारिस्थिकीय संतुलन (Ecological Balance) एवं आर्थिक दक्षता (Economic Efficiency) पर यथेष्ट जोर देना।
- उत्पादन का विकेन्द्रीकरण— स्थायी विकास के लिए विकेन्द्रीकरण करके इस क्षेत्र में जन-सहयोग को बढ़ाना।
 - संसाधन संरक्षण— भूमण्डलीय आधार पर समग्र जीवन-चक्र का प्रबंधन करके संसाधनों का प्रभावी संरक्षण करना।
 - प्रभावशाली जवाबदेही तंत्र— पारिस्थितिक संतुलन में किसी प्रकार के विक्षोभ उत्पन्न करने वाले के विरुद्ध शख्त कार्यवाही की जाए।
 - पारिस्थितिक साक्षरता— इसके द्वारा वैश्विक पारिस्थितिकीय संरक्षण चेतना का विकास करना।
 - स्थाई विकास पर प्रभावी जनमत निर्माण में पर्यावरणवादियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, गैर-सरकारी संगठनों की सहायता लेनी चाहिए।
 - संसार के सभी देशों द्वारा पर्यावरण के सम्बन्ध में वैश्विक संस्थाओं, संधियों व प्रोटोकाल को पूर्ण मान्यता दी जाये व उनका पूर्णतः अनुपालन हो।
 - भारत में स्थायी विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी प्रयास चल रहे हैं। भारत उन विकासशील देशों में आता है, जहाँ पर्यावरण के सम्बन्ध में व्यापक जागृति आई है एवं स्थायी विकास हेतु सघन प्रयास किये जा रहे हैं। जिन्हे अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है। यथा—
 - वनरोपण व सामाजिक तथा कृषि वानिकी

- मृदा संरक्षण व परती भूमि विकास कार्यक्रम
- कृषि जलवायुविक प्रादेशीकरण
- वाटरशेड प्रबंधन
- शस्य-क्रम
- शुष्क कृषि विकास

इसके अतिरिक्त जीवमण्डल विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय अभ्यारण्य, जलग्रस्त भूमि संरक्षण, मैग्रोव संरक्षण, तटीय पारिस्थितिकी एवं मलिन बस्तियों में सुधार एवं प्रदूषण नियंत्रण के लिए विभिन्न प्रकार के कानून आदि को भी सतत् विकास की दिशा में हो रहे प्रयासों के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति का स्वास्थ्य भोजन, व्यायाम और विश्राम का परिणाम है। निकटवर्ती प्रभावी पर्यावरण यदि इनमें सकारात्मक रूप से सहायक है तो उत्तम स्वास्थ्य प्राप्ति होगा और यदि यही पर्यावरण बाधक है तो अस्वास्थ्य की प्राप्ति होगी। मानव शरीर पाँच तत्वों (छिति, जल, पावक, गगन, समीरा) से मिलकर बना है। यदि जीवन के संवाहक पर्यावणीय कारक जल, वायु, वनस्पति और पशु उत्पादक यदि विषाक्त मिले तो मानव स्वास्थ्य का विषम संकट खड़ा होगा। वर्तमान कोरोना काल की दूसरी लहर में वायु प्रदूषण से श्वसनतंत्र एवं त्वचा कैंसर का प्रकोप तेजी से बढ़ा है। मानव शरीर अति संवेदनशील है। शरीर में कुछ क्षतियाँ अपूर्णीय हैं। अतः हम सबका दायित्व बनता है कि पर्यावरण के प्रति जागरूकता को जन-जन तक अपरिहार्य रूप से पहुँचाएँ।

संदर्भ सूची

1. मौर्य एस0डी0 (2006) संसाधन एवं पर्यावरण, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

2. नेगी,पी० एस० (200) पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण भूगोल, रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ ।
3. डब्लू सी०वाल्टन (1970) ग्राउण्ड वाटर रिसोर्स इवेल्यूशन, एम०पी० ग्रोव हील, न्यूयार्क,
4. सिंह डा० काशीनाथ सिंह, डा० जगदीश सिंह (1997) आर्थिक भूगोल के मूल तत्व ।
5. मिश्र,डा०डी०के (2004) जनसंख्या, पर्यावरण एवं विकास,ए०पी०एच० पब्लिशिंग कार्पोरेशन, नई दिल्ली ।
6. सिंह, रवीन्द्र (2001) पर्यावरण भूगोल, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद ।
7. कुरुक्षेत्र, मासिक पत्रिका, अक्टूबर 2011 ।
8. मोहम्मद, नूर : "भारत का भौतिक पर्यावरण", एन०सी०ई०आर०टी०, नई दिल्ली ।
9. योजना, मासिक पत्रिका, अगस्त 2011 ।
10. विज्ञान प्रगति, मासिक पत्रिका, जून 2012 ।